कर्मयोग

गीता में आत्मलाभ के साधन के रूप में कर्मयोग का भी साधन प्रतिपादित है। आधुनिक युग में लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी और श्रीमती एनी विसेंट आदि विचारकों ने कर्मयोग, विशेषतः निष्काम कर्मयोग को ही गीता की मुख्य शिक्षा स्वीकार किया है। यह आत्मलाभ के साथ लोकसंग्रह की भी सिद्धि का साधन है। कर्मयोग शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - कर्म और योग। 'कर्म' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'कर्म' शब्द का एक अर्थ है, 'कार्य (कर्तव्य कर्म)। 'कर्म' शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ' भी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका यही अर्थ किया जाता है। 'कर्म' शब्द कभी-कभी 'ईश्वरोपासना' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। गीता में कर्म शब्द यथास्थान उपरोक्त सभी अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। गीता में कर्म शब्द एक अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द उन कर्तव्यों के अर्थ में आया है जो परम्परया समाज के पृथक्-पृथक् वर्गों के साथ सम्बद्ध हो गये थे। इन्हें 'स्वधर्म' या 'वर्णधर्म' कहा जाता है। वास्तव में गीता में कर्म शब्द का यही अन्तिम अर्थ अधिक अभीष्ट है। तात्पर्य यह है कि गीता में कर्म शब्द वर्णगत कर्म (सामाजिक कर्तव्य) के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'योग' शब्द का अर्थ है, 'जोड़ना' या 'लगाना', यह बताया जा चुका है। हम स्वधर्म का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में आगे करेंगे। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ है, 'निष्ठापूर्वक अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना'। वास्तव में गीता कर्मयोग के प्रसंग में प्रत्येक व्यक्ति से यह आग्रह करती है कि वह अपने वर्णगत कर्तव्यों का, उन सामाजिक कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करे जो समाज में एकता लाने के लिए तथा एकता को बनाये रखने के लिए साधनस्वरूप हैं।

गीता कर्मप्रवृत्ति की नैसर्गिकता पर बल देती है। वास्तव में कर्म करना मनुष्य का सहज स्वभाव है और गीता यह समझती है कि इस तथ्य की उपेक्षा करने वाला कोई जीवन दर्शन कभी-भी रूचिकर एवं सर्वप्रिय नहीं हो सकता। गीता स्थान-स्थान पर यह स्वीकार करती है कि कोई भी मनुष्य क्षण भर के लिए भी कर्म का परित्याग नहीं कर सकता (न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत[18])। कोई भी मनुष्य कर्मों को प्रारम्भ न करने मात्र से ही नैष्कर्म्य को नहीं प्राप्त होता और कर्मों का परित्याग करने मात्र से मोक्ष को भी नहीं प्राप्त करता। गीता की दृष्टि में

यदि कोई व्यक्ति कर्मों का परित्याग भी करना चाहे तो उसके लिए ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि उसकी शरीर और इन्द्रियाँ सदैव किसी न किसी कर्म में लगी रहती हैं। यह सम्पूर्ण लोक कर्म से बँधा है (लोकोऽयं कर्मबन्धनः) और प्रकृति के सत्त्व, रजस् एवं तमसगुण सब प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं। गीता अकर्म की अपेक्षा कर्म को श्रेष्ठ मानती है, क्योंकि कर्म के अभाव में शरीर का निर्वाह भी असम्भव है। यदि सभी लोग कर्म करना बन्द कर दें तो सृष्टिचक्र ही रुक जायेगी। यह अकर्म को वैसे-ही निन्दित समझती है जैसे दुष्कर्म को। गीता के अनुसार यद्यपि संन्यास (कर्मत्याग) और कर्मयोग दोनों श्रेष्ठ हैं, तथापि कर्मयोग कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ है[19]। गीता पूर्णता की अवस्था में भी कर्मसम्पादन को आवश्यक मानती है। यह इस सन्दर्भ में कृष्ण एवं जनक का उदाहरण देती है। कृष्ण तो सदा पूर्ण थे और जनक ने भी पूर्णता प्राप्त कर लिया था। वे इसके बावजूद कर्मरत रहे। गीता के अनुसार मुक्तात्माओं का यह कर्तव्य है कि वे अपने अन्दर स्थित दैवीय शक्ति को खोजने में दूसरों की सहायता करें, क्योंकि मानवजाति की सेवा ही ईश्वर की उपासना है[20]।

गीता का कर्मयोग निष्काम कर्मयोग है। गीता का आदेश कर्म करने के लिए है ही, निष्काम भाव से कर्म करने के लिए है। निष्काम कर्मयोग का अर्थ है कि हम कर्म को सदैव साध्य के रूप में देखें, उसे कभी भी साधन के रूप में न ग्रहण करें। हम कर्म तो करें, किन्तु कर्म फल में आसक्ति न रखें। हम कर्म करने से पहले तथा कर्म करते समय भी उससे प्राप्त होने वाले फल के विचार को मन में कदापि न लायें। गीता के विचार में दो दृष्टियों से कर्म किए जाते हैं- सकाम भाव से (फलाकांक्षा के विचार से) और निष्काम भाव से (फलाकांक्षा के विचार का परित्याग करके)। गीता के अनुसार जो कर्म फलाकांक्षा की भावना से किये जाते हैं वे बन्धनकारी होते है और जो कर्म फलाकांक्षा की भावना का परित्याग करके किये जाते हैं वे बन्धनकारी न होकर मोक्षप्रदायक होते हैं। वास्तव में सकामना बन्धन है और निष्कामना मोक्ष है। गीता सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मों के दुष्परिणामों को भी रेखांकित करती है। इसके अनुसार, 'सकाम होकर कर्म करने से कर्म में आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से आकांक्षा जन्म लेती है। आकांक्षा से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मोह से स्मृति नष्ट होती है। स्मक्ति-नाश से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है[21]। गीता इसी प्रसंग में संन्यास और त्याग में भेद करती है। उसके अनुसार ऐसे सभी कर्मों का त्याग जो फलाकांक्षा से किये जाते हैं, संन्यास है तथा कर्मों के फलों का परित्याग त्याग है-

काम्यानां कर्माणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः[22]।।

इसीलिए गीता कर्म करने वाले तथा उसके फल का परित्याग करने वाले को त्यागी कहती है (वस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागी इत्यभिधीयते)। गीता की यह भी मान्यता है कि निष्काम भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त करता है। इसी कारण गीता कर्मयोग को कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ मानती है, यद्यपि उसकी दृष्टि में दोनों ही अभीष्ट हैं। उसकी दृष्टि में कर्मफल में आसक्ति का परित्याग करके कर्म करने वाला ही संन्यासी एवं योगी है। इसीलिए